



शूद्र वर्ण एवं स्मृतिकालीन संदर्भ

शोध पत्र-संस्कृत

* ज्योति शर्मा

शूद्र भारतीय समाज का दलित एवं शोषित वर्ण रहा है। यद्यपि भारतीय वर्ण-व्यवस्था का इतिहास अपने प्रारम्भिक काल में अनाचारों को ही इंगित नहीं करता किन्तु स्मृतिकाल में वर्ण-व्यवस्था के जो नियम निर्धारित किए गए थे वे शूद्रों को दलित बनाने में विशेष सहयोगी रहे। इस तरह से प्राचीन भारतीय समाज में शूद्र वर्ण ही वस्तुस्थिति के आकलन हेतु स्मृतिकालीन संदर्भ का अवलोकन करना अत्यावश्यक है। स्मृतिकाल भारतीय धर्म की शास्त्रीय प्रतिष्ठापना का काल है। इस काल में भारतीय धर्मव्यवस्था के व्यावहारिक स्वरूप को उपस्थापित करने के लिए स्मृति ग्रन्थों की रचना की गयी है। इन ग्रन्थों में मानव धर्मशास्त्र अथवा मनुस्मृति को प्राचीन माना जाता है। मनुस्मृति में उल्लिखित वर्णव्यवस्था के क्रम में यह कहना उचित होगा कि चारों वर्णों में से केवल त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए यज्ञ, दान एवं वेदाध्ययन का विशेष अधिकार प्रदान कर मनु आदि स्मृतिकारों ने द्विजत्व की अवधारणा को प्रबल बनाया, जिसके कारण स्वाभाविक रूप से शूद्रों के प्रति हीनता की भावना को बल प्राप्त हुआ, क्योंकि उन्हें स्पष्ट रूप में संस्कारों से वंचित रखा गया था। विवाह एवं अन्त्येष्टि दो ही ऐसे संस्कार थे, जिन्हें शूद्र सम्पन्न कर सकते थे, किन्तु उसमें भी मंत्रोच्चारण निषिद्ध था।

सामाजिक दृष्टि से भी शूद्र के प्रति हीन भावना को बल मिलने का एक अन्यतम कारण अनुलोम विवाह को मान्यता देना एवं प्रतिलोम विवाह को वर्जित करना रहा है। तत्कालीन समाज में प्रायः इस मान्यता का विकास हुआ कि त्रैवर्णिक परस्पर अनुलोम विवाह कर सकते थे, किन्तु शूद्र इससे सर्वथा पृथक् था। इस प्रकार कुछ अंशों में स्मृतिकाल के धर्माचार्यों द्वारा समाज-संगठन के ढाँचे को खोदने का असफल प्रयास किया गया। जहाँ तक शूद्र वर्ण के कर्तव्यों का प्रश्न है, स्मृतिकार मनु ने शूद्र का एकमात्र कर्म द्विजवर्ण की शूश्रूषा करना बतलाया है-

**“एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिष्टम्।
एतेषामेव वर्णानां शूश्रूषामनसूयया।”**

स्मृतिकार मनु का यह मत सूत्रकार आपस्तम्ब से प्रभावित जान पड़ता है। क्योंकि आचार्य आपस्तम्ब ने ही इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है -

“शूश्रूषा शूद्रस्पेतरेषां वर्णानाम्”

प्रसिद्ध धर्माचार्य एवं सूत्रकार गौतम ने भी “परिचर्या चेतरेषाम्। तेभ्यो वृत्तिं लिप्येत्। तत्र पूर्व परिचरेत्।” लिखकर उक्त मंतव्य का प्रतिपादन बहुत पूर्व ही कर दिया था, किन्तु महाभारतकाल में दास एवं शूद्र को स्पष्ट रूप से एक-दूसरे का पर्याय मान लिया गया,

इसके कारण शूद्र वर्ण स्पष्ट रूप से आगे चलकर दास वर्ण के समान ही शोषण एवं अत्याचार का शिकार हुआ। महाभारतकार की यह अवधारणा निम्न शब्दों में व्यक्त हुई-

“प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्”

मनु के पश्चात् स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने कर्म की दृष्टि से शूद्र को हीन नहीं मानने के सम्बन्ध में यह उल्लेख किया है, कि अनेक शूद्र क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण का कार्य भी करते थे।

उदाहरण के लिए मिताक्षरा में देवल के मत को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है -

**“शूद्रधर्मो द्विजातिशूश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणं
कर्षणं पशुपालनं भारीद्वहनपण्य
व्यवहारचित्रकर्म नृत्यगीतवेणुवीणागुरजमृदङ्.
गवादानादिनी।”**

याज्ञवल्क्य का उपर्युक्त अभिमत भी महाभारतकाल की एक विशिष्ट अवधारणा पर आधारित है, जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि यदि शूद्र को अपना वर्णोचित कर्म उपलब्ध न हो, तो वह वाणिज्य पशुपालन अथवा शिल्पकर्म इत्यादि से आजीविका प्राप्त कर सकता है।

**“वाणिज्यं पशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यादि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते।”**

शूद्रवर्ण को गृहित बनाने में स्मृतिकालीन दो मुख्य अवधारणायें भी उत्तरदायी प्रतीत होती हैं।

1. शूद्राशुद्धि की भावना
2. स्पृहास्पृश्य की भावना।

इन दोनों अवधारणाओं ने ब्राह्मण वर्ण को श्रेष्ठता प्रदान करने में तथा शूद्र वर्ण को हीनता प्रदान करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। मनु ने स्पष्ट रूप से चारों वर्णों में ब्राह्मण की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है -

**“सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रेष्ठयेनाऽभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति।”**

**“स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृष्टस्याद् ब्राह्मणस्य भुङ्क्ते हीतरे जनाः।”**

मनु ने द्विजाति को कर्म से पृथक् होने पर शूद्र की संज्ञा प्रदान की है तथा इसी प्रकार द्विजाति से पृथक् शूद्र को वेदाध्ययन कराने पर भी शूद्रत्व का अथवा शूद्रतुल्यत्व का उल्लेख किया है, जिससे शूद्र के प्रति हीनता की भावना का स्पष्ट प्रतिपादन होता है।

“योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।

*शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

स जीवन्नेव युद्रत्वमायु गच्छति साऽन्वयः।।”

“नाऽभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादते।

युद्धेण हि समस् तावद् यावद् वेदे न जायते।।”

विवाह संस्कार के प्रकरण में भी मनु ने युद्ध स्त्री से विवाह करने पर द्विज के पतित होने का उल्लेख किया है। इससे भी युद्धों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण में पर्याप्त भिन्नता को अवसर प्राप्त हुआ है।

युद्धवर्ण को दलित बनाने में स्मृतिकारों का पूर्ण योगदान रहा है, क्योंकि अनेक स्थानों पर स्मृतिकारों ने युद्धों को मर्यादा से अतिरिक्त प्रतिबन्धित करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर मनु लिखते हैं -

“न युद्राय मतिं दद्यान् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।

न चाऽस्योपदिशेद् धर्मं न चाऽस्य व्रतमादिशेत्।।”

यो ब्रह्म धर्ममाचष्टे यद्वैवाऽऽदिशति व्रतम्।

सोऽसंवृतं नाम तमः सहते नैव मज्जति।।”

अर्थात् स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण युद्ध को लौकिक बुद्धि न दे, उच्छिष्ट (जूटा) भी न दे, यज्ञशेष भी न दे, उसे (युद्ध) धर्म का उपदेश भी साक्षात् न दे, तथा प्राजापत्य कृच्छ्रादि व्रत का भी साक्षात् उपदेश न करें।

अर्थात् जो स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण इसको (युद्ध को) साक्षात् धर्म का उपदेश करता है और जो इसको प्राजापत्यकृच्छ्रादि व्रत का साक्षात् विधान करता है, वह उसी युद्ध के साथ असंवृत नाम के नरक में डूबता है।

स्मृतिकाल के पश्चात् वर्ण एवं जाति व्यवस्था का स्वरूप प्रायः स्थिर हो गया। प्रायः पौराणिक काल में गोत्र एवं प्रवर की परम्परा प्रारम्भ हुई। इस परम्परा में ऋषियों का एवं गुरुओं का सर्वाधिक योगदान रहा। वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की संतानों ने ऋषियों के नाम पर अपने गोत्रों की कल्पना की।

पुराणकालीन पृष्ठभूमि से पता चलता है, कि ब्राह्मण वर्ण में 49 ऋषि गोत्र स्वीकार किए गए थे। ये गोत्र केवल वंशजों के लिए ही

नहीं, अपितु शिष्यों के लिए भी माने गए थे। अतः पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में ‘वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च’ लिखकर इस मत की पुष्टि की।

कालान्तर में एक गोत्र में उत्पन्न होने वाले यशस्वी विद्वानों के नाम पर प्रवर की प्रथा भी प्रचलित हुई। इसके साथ ही देश के आदिम पर भी एक वर्ण के अन्तर्गत उपजानीय विभाजन सम्भव हुआ। इस परम्परा का अनुकरण अन्य वर्णों द्वारा भी किया गया, जिससे अन्य वर्णों जातियों एवं उपजातियों, गोत्रों एवं प्रवरों से संभव हो गया, जिससे जाति व्यवस्था की जड़ें अत्यन्त गहरी हो गईं।

पुराणकाल में जातीय कट्टरता के परिणामस्वरूप निम्न वर्ण को हेय एवं त्याज्य समझने की भावना का तीव्रता से विकास हुआ तथा इसी भावना ने आगे चल कर दलित वर्ण के विकास में पर्याप्त योगदान दिया।

यद्यपि पुरातन सांस्कृतिक आदर्शों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से धर्माचार्यों ने जब भेदभाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया, तो पुराणकाल के अवसान के साथ ही दलित वर्ण का विकसित स्वरूप उपस्थापित हुआ, जिसकी स्थिति पुराणों के परवर्ती साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती है।

इस कालखण्ड में ऊँच-नीच के भेद छुआछूत खान-पान एवं अपनी जाति में ही विवाह इत्यादि नियमों का कठोरता से पालन किया जाने लगा। धर्मशास्त्र के प्रणेताओं द्वारा प्रतिपादित एवं स्मृतिग्रन्थों में उल्लिखित तथ्यों को प्रमाण मानते हुए ग्लेच्छों अथवा युद्धों के स्पर्श से अपवित्र अन्न जल को ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया जाने लगा।

इस प्रकार के कार्यों से युद्ध वर्ण को धीरे-धीरे शोषण की ओर अग्रसर होने का अवसर मिला तथा आभिजात्य वर्ण में युद्धों को लेकर संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 मनु 1/91
- 2 आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/10/
- 3 धर्मद्वय पृष्ठ 147
- 4 महाभारत शान्तिपर्व 295/4
- 5 शान्तिपर्व 294/4
- 6 मनु 1/100
- 7 मनु 1/100
- 8 मनु 2/168
- 9 मनु 2/172
- 10 मनु 3/16
- 11 मनु 4/80
- 12 मनु 4/81